

धर्म का भारतीय समाज के संदर्भ में समाशास्त्रीय विश्लेषण

डॉ. नन्द किशोर कुमावत

व्याख्याता

विद्यास्थली विधि महाविद्यालय, जयपुर

सारांश

प्रस्तुत लेख में धर्म और अधर्म का भारतीय समाजशास्त्र के संदर्भ में विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। वैदिक साहित्य में धर्म का अर्थ न्याय दर्शाया गया है। इसके विभिन्न पक्ष प्रस्तुत किए गए हैं जिसमें भौतिक और अभौतिक सिद्धांतों, नियमों और विश्वासों को भी स्थान दिया गया है। यह केवल अलौकिक शक्ति से जुड़ने का साधन नहीं है वरन् यह न्यायशास्त्र की सर्वोच्च संस्था, सामाजिक नियंत्रण की आंतरिक व्यवस्था होने के साथ-साथ समाज की प्रत्येक संस्था के निर्माण, संचालन और समाप्ति से भी संबंधित है।

प्रस्तावना

धर्म और रिलीजन को भाषायी रूपांतरण में एक समझ कर एक ही दृष्टिकोण से इसका समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता रहा है। धर्म अथवा रिलीजन को एक ही अर्थ देते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि यह अलौकिक शक्ति से जुड़ने का साधन अथवा तरीका है। इसके प्रकार भी एकल दैवीय, बहुदैवीय, मूर्तिपूजा आदि के रूप में किया गया है। भारतीय संदर्भ में और भारतीय समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से इस प्रकार का विश्लेषण त्रुटि पूर्ण है क्योंकि यदि धर्म केवल अलौकिक शक्ति की पूजा और उससे जुड़ने का साधन मात्र है तो समुदाय विशेष में इसका प्रभाव प्रत्येक पक्ष यथा विवाह, मान्यताओं और प्रथाओं पर देखने को क्यों मिलता है? भारतीय वैदिक साहित्य में धर्म के साथ अधर्म की भी अवधारणा प्रस्तुत की गई है जबकि अन्य समाजशास्त्रियों ने अधर्म की अवधारणा प्रस्तुत नहीं की है क्योंकि उनके दृष्टिकोण में अधर्म और नास्तिकता समान है। वहीं भारतीय धार्मिक लेखों में नास्तिकता को भी धर्म का हिस्सा स्वीकार किया गया है। यहाँ प्रचलित चार्वाक दृष्टिकोण इसका उदाहरण है।

धर्म का अर्थ

भारतीय समाज में धर्म का अर्थ न्याय, कर्तव्य, पवित्रता आदि को धर्म का स्थान दिया गया है। धर्म 'धृ' धातु से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है धारण करना। दूसरों के प्रति मन में दया धारण करना, अपने कर्म को धारण करना इसका विस्तृत अर्थ है। वैदिक साहित्य में किसी वस्तु का मूल तत्व धर्म कहा गया है। धर्म जीवन की समस्त क्रियाओं में समाहित है। इसलिए धर्म के दो स्वरूप बताए गए हैं – श्रौत एवं स्मार्त। श्रौत धर्म श्रुतियों या वेदों से संबंधित धर्म है। जिसमें कर्मकाण्डों को धारण करना धर्म है। स्मृतियों में वर्णित व्यवहारों और कर्तव्यों को धारण करना स्मार्त अथवा स्मृति धर्म है और यह इसकी व्यापकता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म की तीन शाखाओं का वर्णन है जो गृहस्थ, तप और ब्रह्मचर्य से संबंधित कार्यों से संबंधित है। तैत्तिरीय उपनिषद् में सदाचरण और कर्तव्यपालन को धर्म कहा गया है। सामाजिक संदर्भ के साथ अलौकिक संदर्भ में वैशेषिक सूत्रों में आनन्द और परमानन्द की प्राप्ति को धर्म कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि केवल ईश्वर उपासना धर्म नहीं है।

धर्म का स्रोत

याज्ञवल्क्य के अनुसार सदाचरण करना ही धर्म है अर्थात् व्यक्ति किसी भी वर्ण का क्यों ना हो यदि वह सदाचारी और अपने कर्तव्यों का पालन करने वाला है तो वह धार्मिक है। महाभारत में युधिष्ठिर ने भी अपने कर्म मार्ग पर चलने को धर्म कहा है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण समाज हित में निष्काम कर्म के चयन को धर्म मानते हैं। दुर्खाइम ने जिस सुपरईगों की अवधारणा दी है उसी को याज्ञवल्क्य जी अन्तरात्मा कहते हैं और यह स्पष्ट करते हैं कि वह कार्य जिसे करने की आज्ञा अन्तरात्मा दे वहीं कार्य धर्म है। इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवद्गीता में धर्म की रक्षा को भी धर्म कहते हैं। उनके अनुसार जिस भांति विश्व के भौतिक नियमों का निर्माता ईश्वर है वैसे ही अभौतिक और सामाजिक नियमों का निर्माता भी ईश्वर ही है। इसमें न्याय, समानता, स्वतंत्रता सर्वोपरि है। मनुष्य की अन्तरात्मा ईश्वर का ही अंश है। अतः धर्म का स्रोत मानव में निहित ईश्वर है और वही सामाजिक नियमों अर्थात् धर्म की

स्थापना करता है। मनु ने धर्म के दस कर्तव्य बताए हैं – धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध।

श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में सनातन धर्म के तीस लक्षण बतलाये हैं और वे बड़े ही महत्त्व के हैं

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।

अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागरू स्वाध्याय आर्जवं।।

संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।

नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनं।।

अन्नाद्यादे संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।

तेषात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव।।

श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।

सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणं।।

नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।

त्रिशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति।।

महाभारत के महान यशस्वी पात्र विदुर ने धर्म के आठ अंग बताए हैं –

इज्या (यज्ञ-याग, पूजा आदि), अध्ययन, दान, तप, सत्य, दया, क्षमा और अलोभ।

उनका कहना है कि इनमें से प्रथम चार इज्या आदि अंगों का आचरण मात्र दिखावे के लिए भी हो सकता है, किन्तु अन्तिम चार सत्य आदि अंगों का आचरण करने वाला महान बन जाता है।

तुलसीदास द्वारा वर्णित धर्मरथ

सुनहु सखा, कह कृपानिधाना, जेहिं जय होई सो स्यन्दन आना ।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका, सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ।

बल बिबेक दम पर-हित घोरे, छमा कृपा समता रजु जोरे ।

ईस भजनु सारथी सुजाना, बिरति चर्म संतोष कृपाना ।

दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा, बर बिग्यान कठिन कोदंडा ।

अमल अचल मन त्रोन सामना, सम जम नियम सिलीमुख नाना ।

कवच अभेद बिप्र-गुरुपूजा, एहि सम बिजय उपाय न दूजा ।

सखा धर्ममय अस रथ जाकें, जीतन कहँ न कतहूँ रिपु ताकें ।

महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर ।

जाकें अस रथ होई दृढ़, सुनहु सखा मति-धीर ।। (लंकाकांड)

पद्मपुराण के अनुसार

ब्रह्मचर्येण सत्येन तपसा च प्रवर्तते ।

दानेन नियमेनापि क्षमा शौचेन वल्लभ ।।

अहिंसया सुशांत्या च अस्तेयेनापि वर्तते ।

एतैर्दशभिरगैस्तु धर्ममेव सुसूचयेत ।।

(अर्थात् ब्रह्मचर्य, सत्य, तप, दान, संयम, क्षमा, शौच, अहिंसा, शांति और अस्तेय इन दस अंगों से युक्त होने पर ही धर्म की वृद्धि होती है ।)

जिस नैतिक नियम को आजकल शगोल्डेन रूलश या एथिक ऑफ रेसिप्रोसिटी कहते हैं उसे भारत में प्राचीन काल से मान्यता है। सनातन धर्म में इसे धर्मसर्वस्व (धर्म सब कुछ है) कहा गया है

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यतां।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।। (पद्मपुराण, शृष्टि 19/357-358)

(अर्थ— धर्म का सर्वस्व क्या है, सुनो ! और सुनकर इसका अनुगमन करो। जो आचरण स्वयं के प्रतिकूल हो, वैसा आचरण दूसरों के साथ नहीं करना चाहिये।)

धर्म को अलौकिकता से संबंधित करते हुए ईश्वर प्राप्ति को धर्म का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। यह लक्ष्य आवश्यक नहीं है कि धार्मिक कर्मकाण्डों की पूर्ति, तप और यज्ञों के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है बल्कि मनुष्य अपने सामाजिक नियमों का पालन करते हुए भी इस लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।

धर्म का स्वरूप

भारतीय वैदिक साहित्य में धर्म को बहु और एकेश्वरवादी दोनों बताया है। ऋग्वेद में 33 प्रकार के देवता बताए हैं। उत्तर वैदिक काल में मूर्तिपूजा का प्रारंभ भी है जो इसके बहुदेववादी और आकारिकी स्वरूप को दर्शाता है। वहीं श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि इस सृष्टि में केवल एकमात्र वह ही है तथा वह निराकार भी है। यह कथन भारतीय धर्म को एकेश्वरवादी और निराकारवादी भी बनाता है।

भारतीय धर्म की विशेषताएँ

भारतीय धर्म सभी प्रकार की विचारधाराओं और विश्वासों को स्वीकार करता है। वह एकेश्वरवादी भी हो सकती है और बहुदेववादी भी, वह प्रकृति और मूर्ति पूजा वाले भी हो

सकते हैं और निराकारवादी भी। इसमें वह विचारधाराएँ भी हैं जो नास्तिकवादी हैं जिसमें जैन, बौद्ध और चार्वाक की विचारधाराएँ सम्मिलित हैं।

धर्म की स्थापना मानवीय ना होकर ईश्वरीय है, उसी प्रकार जिस प्रकार यह संपूर्ण भौतिक सृष्टि मानवीय उत्पत्ति नहीं है। इसलिए भारतीय समाज में यह विश्वास है कि धर्म की स्थापना केवल ईश्वर करते हैं मानव केवल उसकी रक्षा कर सकता है।

भारतीय समाज में विभिन्न संतों ने वैदिक साहित्य और उपनिषदों पर टीकाएँ और आलोचनाएँ प्रस्तुत की हैं परंतु वह भी धर्म का ही एक भाग बन गई। विभिन्न लोगों ने अपने मत के अनुसार जो नए नियम समय के अनुसार बताए वह पंथ कहलाए। भारतीय धर्म की यही विशेषता है कि वह समय के अनुसार बहती नदी की तरह अपने मार्ग को परिवर्तित करता है। उसमें कट्टरता नहीं है वरन् वह पूर्ण रूप से पंथनिरपेक्ष है।

अधर्म

भारतीय वैदिक साहित्य में अधर्म की भी व्याख्या की गई है। सामाजिक नियम जिनका उल्लेख किया जा चुका है यदि कोई उनके विपरीत आचरण करता है वह अधर्म की श्रेणी में माना गया है। ऐसी विचारधाराएँ जो समाज के लिए घातक हैं जो इसमें न्याय, समानता और स्वतंत्रता को नष्ट करती हैं उन्हीं को अधर्म कहा गया है।

निष्कर्ष

भारतीय संदर्भ में धर्म को रिलीजन के संदर्भ में नहीं इंगित करना चाहिए। धर्म स्वतः सामाजिक व्यवस्था और प्रकार्य का आधार है। यह अपने विपरीत अधर्म की अवधारणा को भी स्पष्ट करता है जबकि रिलीजन के संदर्भ में ऐसा नहीं है। भारतीय विधि नियमों में भी भारतीय संदर्भ में मनुस्मृति, उपनिषदों में बृहस्पति, याज्ञवल्क्य, नारद, पाराशर आदि स्मृतियों का संदर्भ लिया गया है। धर्म सामाजिक व्यवस्था, प्रकार्यात्मकता, लौकिक नियमों के साथ-साथ वैज्ञानिक सिद्धांतों को भी सम्मिलित करता है। इसी के साथ अलौकिक शक्तियों की पूजा,

कर्मकाण्डों को भी अपनाता है। समाज की प्रत्येक संस्था, व्यक्ति और प्रस्थिति के अनुसार निर्मित भूमिकाओं को भी धर्म में ही सम्मिलित किया गया है। अतः यह समाज के निर्माण और संचालन का आधार है तथा यदि इसमें अधर्म बढ़ता है तो यह समाज के विनाश का भी कारण है। इसलिए धर्म में ईश्वर को निर्माता, संचालक और विनाशक बताया गया है। ईश्वर सभी को देख रहा है और सभी को उनके कार्यों के अनुसार फल भी देता है, इस प्रकार के धार्मिक विश्वास सामाजिक नियंत्रण का चरमोत्कर्ष है। परिवर्तन संसार का नियम है और परिवर्तन के साथ परिवर्तित होना भी धर्म है, इस प्रकार के विश्वास सामाजिक परिवर्तनों की वैश्विकता सिद्ध करते हैं।

संदर्भ

1. याज्ञवल्क्य संहिता
2. मनुस्मृति
3. भगवद्गीता
4. श्रीमद् भागवदपुराण
5. रामचरित मानस
6. पदम्पुराण